

32

सतत् विकास की ओर

आर्य संन्यासी
महात्मा गोपाल स्वामी सरस्वती

न मुँह छुपा के जीयो,
और न सर झुका के जीयो।
ग़मों का दौर भी आये,
तो मुस्करा के जीयो॥

मातुश्री धनदेवी केशवराम धर्मार्थ वैदिक ट्रस्ट
"केशव भवन", ९८, भूड़, बरेली-२४३ ००३ (उ०प्र०)

सस्नेह भेंट–

सर्वाधिकार सुरक्षित	:	प्रकाशकाधीन
प्रकाशक	:	मातुश्री धनदेवी केशवराम धर्मार्थ वैदिक ट्रस्ट
यह संस्करण	:	अगस्त २००४ ई० वि०सं० २०६१ (२००० प्रतियाँ)
प्राप्ति स्थान	:	१. विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द ४४०८, नई सड़क, दिल्ली–११० ००६ (भारत) दूरभाष : ०११–२३९७७२१६ २. विश्व मानव उत्थान परिषद् ४६/५, कम्युनिटी सेंटर, ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली–११० ०६५ दूरभाष : ०११–५५६०८९१६ ३. वैदिक स्वाध्याय केन्द्र वैदिक साधनाश्रम, धन कुटीर, १००, भूड़, बरेली–२४३ ००३ (उ०प्र०) दूरभाष : ०५८१–२५४६७२५
सहयोग राशि	:	पाँच रुपये



सतत् विकास की ओर

आर्य संन्यासी
महात्मा गोपाल स्वामी सरस्वती

मातुश्री धनदेवी केशवराम धर्मार्थ वैदिक ट्रस्ट (पंजी०)
केशव भवन, ९८ भूड़, बरेली–२४३ ००३ (उ०प्र०)



उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥

—अथर्ववेद ८।१।६

O Man! Keep yourself ever developing and progressing. Never fall down. Attain dexterity and lively excellence for which I have given you enough capability. Make your life a comfortable chariot moving towards your goal. Then motivate the people in your sphere of activity with your inspiring words and exemplary life attitudes.

उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य सन्दृशः॥

—अथर्ववेद ८।१।४

O Man! Rise above from your existing position. You are not for coming down or for having a downfall. Keep cutting bondages of sorrows and death but never cut off yourself from your duties in this world like (Agni) fire and (Surya) sun.





सतत् विकास की ओर

आपका लक्ष्य ऊपर उठना है, नीचे गिरना नहीं ?

आप मनुष्य हैं—सृष्टि के समस्त प्राणियों में शिरोमणि। पशुओं की तुलना में आप अपने शरीर-रचना पर ध्यान दें। चौपायों को तो अपने भोजन के लिये भी अपने शिर को झुकाना पड़ता है। लेकिन विधाता ने आपको नीचे पैर दिये हैं, तो ऊपर शिर दिया है। इसलिंये कि पैर आपके धरती पर टिके रहें, और शिर आपका हमेशा ऊँचा रहे। इस पर भी आप मुँह छुपा कर और शिर झुका कर जीयें, तो इससे बड़ा दुर्भाग्य आप का और क्या हो सकता है। परमात्मा ने हम-आप को उर्ध्वगामी प्राणी बनाया है, अधोगामी नहीं। परमेश्वर की इच्छा तो यही है—'उद्यानं ते पुरुष नावयानं' (अथर्ववेद ८.१.६) हे (पुरुष) मनुष्य! (ते) तेरा (उत्यानम्) उत्थान हो, (अवयानम् न) अधःपतन नहीं। तू ऊँचा उठने के लिये है, नीचे गिरने के लिये नहीं।

ऊँचा उठना ही जीवन है। जीवन में महानता के उच्चतम शिखर तक पहुँचने का नाम विकास है। विकास में ही जीवन का रोमांच और आनन्द है। क्या आपने कभी सोचा है कि हम मनुष्यों को पर्वतों की ऊँची-ऊँची चोटियाँ क्यों आकर्षण का केन्द्र रही हैं। क्या है, उन पर्वतों की चोटियों पर, जो यहाँ समतल मैदानों में नहीं है ? क्यों आकृष्ट होते हैं लोग पर्वतारोहण की ओर ? इसलिये कि हमारी मूल प्रवृत्ति ही उर्ध्वगामी है। वह 'उत्-यानम्' ऊपर उठना चाहती है, अपनी स्थिति को कुछ और अच्छा, कुछ और उन्नतिशील, कुछ और ऊँचा बनाना चाहती है। नन्हा शिशु भी जब पहली बार खड़ा होता है, तो कितना ख़ुश होता है, और फिर जब वह चलने लग जाता है, तो उसकी प्रसन्नता देखते ही बनती है। उसी शिशु को आप अपने कन्धों पर खड़ा कर लें, तो उसकी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती। आगे बढ़ने और ऊँचे चढ़ने में ही जीवन का सार है। जस-की-तस

स्थिति तो साक्षात मृत्यु है। वेद वाणी की तो स्पष्टोक्ति है—
उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था। (अथर्ववेद ८।१।४)
हे (**पुरुष**) मानव! (**अतः**) इस स्थिति से (**उत्क्राम**) आगे बढ़। (**मा अव पत्था**) नीचे मत गिर।

ज़रा सोचिये, आप जिस स्थिति या स्थान पर हैं, वहाँ से आप कितना देख पाते हैं, केवल कुछ मीटर तक ही ना! किन्तु वही आप किसी ऊँचे स्थान से, किसी पहाड़ी के शिखर पर खड़े होकर दृश्यावलोकन करें, तो दूर-दूर तक का नज़ारा आप सुगमता से ले सकते हैं। **अपने दृष्टिकोण को यदि आप व्यापक और विस्तृत करना चाहते हैं, तो ऊँचे चढ़ने के अतिरिक्त आप के पास कोई और विकल्प नहीं है।** मैदानों के ध्वनि-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण और कोलाहल भरे वातावरण से यदि आप अशक्त हो गये हैं, तो चलिये पर्वतों की ओर, और कीजिये पर्वतारोहण। जितना-जितना आप आगे बढ़ते और ऊँचे उठते जायेंगे, उतनी ही उतनी मिलती जायेगी आपको स्वच्छता, निर्मलता, शीतलता, आत्म-सन्तुष्टि, आह्लाद और एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति। भारतीय मनीषा की प्राचीनतम पुस्तक वेद में इस विषय में बड़ी सुन्दर बात कही गई है—

अनुहूतः पुनरेहिं विद्वानउदयनं पथः।
आरोहणं-आक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्॥

—अथर्ववेद ५.३०.७

(**अनु-हुतः**) अन्तःप्रेरित होकर (**पथः**) पथ के (**उत-अयनम्**) चढ़ाव, अर्थात् विकास के मार्ग को (**विद्वान**) जाननेवाला बन। (**पुनः**) फिर [कर्मक्षेत्र में कर्म करने हेतु] (**आ इहि**) यहाँ आ। (**आरोहणम्**) ऊँचा चढ़ना, और (**आक्रमणम्**) आगे बढ़ना (**जीवतः-जीवतः**) जीव-जीव, अर्थात् प्रत्येक प्राणी का (**अयनम्**) दिशा-मार्ग है।' इससे चार बातें बड़ी स्पष्ट होती हैं—

१. ऊँचा उठना और आगे बढ़ना ही प्रत्येक मनुष्य का अधिकार भी है, और गमन-मार्ग भी। इस मार्ग पर बाधक-तत्वों से संघर्ष करना जीवन्त जीवन की निशानी है। सतत विकास की ओर चलते रहना ही जीवन है।
२. विकास के मार्ग पर चढ़ने की मूल अनिवार्यता अन्तः प्रेरणा है। अपने अन्दर की आवाज़ को जब मनुष्य सुनता है, तब

ही वह विकास के मार्ग पर अग्रसर होता है। जो अपनी अन्तरात्मा की पुकार को सुनकर अनसुनी कर देता है या उसको दबा देता है वा उसका हनन कर देता है, वह विकास की ओर जाने के बजाय गहन अन्धकार में प्रवेश कर जाता है, जहाँ पतन ही पतन है।

३. ऊँचा उठने के लिये चढ़ाव के मार्ग में जो सोपान हैं, उनको भली-भाँति जानना-समझना ज़रूरी है, पूर्व इसके कि इस मार्ग पर अग्रसर हुआ जाय। **ऊँची उड़ान भरने से या ऊँची छलांग लगा लेने से कोई व्यक्ति ऊँचा नहीं हो जाता।** महापुरुषों के जीवन-वृत्त इस बात के गवाह हैं कि जिन ऊँचाइयों पर वे पहुँचे थे, वे उन्होंने एकाएक नहीं प्राप्त कर लीं। उन्हें उसके लिये काफ़ी लम्बी साधना, कठिन परिश्रम तथा अतुलनीय तप और त्याग करना पड़ा था, तब जाकर वे उस महानतम् स्थिति पर पहुँच पाये थे।

४. पथ के चढ़ाव या विकास मार्ग के सोपानों को जान-समझकर ही संसार में आगे बढ़ना है। यह संसार ही मनुष्य का कर्मक्षेत्र है। परन्तु यह संसार पर्वतीय पथरीली वेगवान नदी के समान है। इसको पार करना जोखिम से भरा हुआ है। पर बिना पार किये कुछ मिलने वाला भी नहीं। अतः पूरी समझदारी, सावधानी और तैयारी से आगे बढ़ना है। नदी के वेग से डगमगा कर बह जाना मृत्यु है, और धीरज व स्थिरता से पार कर लेने में जीवन की जीत है।

विकास की इस सप्तपदी को अपनाईये—

उत्तरोत्तर प्रगति की दिशा में सात लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सही क़दम उठाकर नपे-तुले ढ़ंग से पैरों को जमा-जमाकर आगे बढ़ना 'सप्तपदी' कहाता है। दांपत्य जीवन में यह लक्ष्य हैं— 'धन-धान्य', 'ऊर्जा', 'स्मृद्धि', 'सुख', 'प्रजा', 'ऋतुओं की अनुकूलता' और 'पारस्परिक सख्यता'। इनसे गृहस्थ सुखी होता है। जीवन के विकास की सप्तपदी में शामिल हैं—

१. आकांक्षा — **२. योग्यता**
३. पुरुषार्थ — **४. व्यवहार कुशलता**
५. कर्मकुशलता — **६. सृजनशीलता, तथा**
७. आत्मविश्वास।

आकांक्षा—

प्रत्येक व्यक्ति यदि वह आगे बढ़ना चाहता है, तो कहीं न कहीं से उसे शुरुआत करनी पड़ेगी। हम जहाँ हैं, जिस स्थिति में हैं, वहीं से हमने विकास मार्ग पर सही क़दम उठाकर नपे-तुले ढ़ंग से पैरों को जमा-जमाकर आगे बढ़ना है। एक चीनी कहावत है कि—"दस हज़ार मील लम्बी यात्रा भी एक अकेले क़दम से शुरु होती है।" तो पहल चलने के लिये हमने स्वयं करनी है। किसी की राह नहीं देखनी। किसी का इन्तज़ार नहीं करना। बस, एक ही चीज़ की ज़रूरत है, और वह है आगे बढ़ने की आकांक्षा। आकांक्षा जीवन की प्रेरणा है। आकांक्षा जननी है, रुचि की, उत्साह की, आशा की और सोद्देश्य सक्रियता की। यदि आकांक्षा नहीं है तो आगे बढ़ने का उद्देश्यपूर्ण लक्ष्य भी हम निर्धारित नहीं कर सकते। निश्चित लक्ष्य के बिना हमारा बढ़ना ऐसा ही होगा, जैसा बिना पतवार की नाव का सागर पर बहकना, और अन्ततः वेगवती लहरों की चपेटों से टकराते हुये टूटना और बिखर जाना। निरुद्देश्य, निष्क्रिय, निष्प्राण चलते जाना आगे बढ़ना नहीं है। इसलिये आकांक्षा बड़ी चीज़ है। आकांक्षा है तो लक्ष्य है, दृढ़ उद्देश्य है और तरक्क़ी की उम्मीद है। जिसमें आकांक्षा नहीं, आगे बढ़ने और ऊपर उठने की तमन्ना नहीं, तो फिर वह मुर्दे की तरह वहीं पड़ा रहेगा, जहाँ है या था। इसलिये यदि जीवन्त जीवितों में अपनी गिनती कराना चाहते हैं तो आकांक्षी ही नहीं महत्वाकांक्षी बनिये, और अपनी महत्वाकांक्षाओं को स्वस्थ मनोबल, सत्य निष्ठा, दृढ़ संकल्प, ओजस्वी पराक्रम, धैर्य और सहिष्णुता की शक्ति से निरन्तर प्राणवान् बनाये रखिये। वेद में आया—

माकुध्र्यगिन्द्र शूर वस्वीरस्मे भूवन्नभिष्टयः।
वयंवयं तं आसां सुम्ने स्याम वज्रिवः॥

—ऋग्वेद १०.२२.१२

हे (इन्द्र) ऐश्वर्यशाली (शूर) वीर (वज्रिवः) वज्र के द्वारा रक्षा प्रदान करने वाले पराक्रमी परमेश्वर!

(अस्मे) हममें (वस्वीः अभिष्टयः) व्यापक आकांक्षायें [महत्वाकांक्षाएँ] हों। वे (कुध्र यक् मा भूवन्) कुत्सित भावना

वाली न हों (**वयम्-वयम्**) हम सब (**ते**) तेरी [और] (**आसाम्**) इन महत्वाकांक्षाओं की (**सुम्ने**) सुमनस्कता में (**स्याम**) रहें।

यथा आकांक्षा तथा उत्कर्ष। जैसी और जितनी आकांक्षा होगी, वैसा और उतना ही उत्कर्ष होगा। लघु आकांक्षा लघु उत्कर्ष, महती आकांक्षा महान् उत्कर्ष। जिनकी आकांक्षायें महान्, विशाल और व्यापक होती हैं, उन्हीं का महतो महान्, अतिशय विशाल, और व्यापक उत्कर्ष होता है। वे उठते और आगे बढ़ते चले जाते हैं। पीछे मुड़ने का सवाल ही पैदा नहीं होता।

योग्यता—

आकांक्षाओं के अनुरूप अपने आप को उपयोगी बनाना योग्यता है। योग्यता से ही पात्रता बनती है, और योग्यता से ही सफ़लता मिलती है। आपने देखा होगा कि एक अयोग्य कारीगर अपने औज़ारों से ही लड़ता-झगड़ता-झुंझलाता रहता है, (A foolish workman always quarrrels with his tools) जब कि एक योग्य कारीगर उन्हीं औज़ारों से बड़ी-बड़ी मशीनें चुस्त और दुरुस्त आसानी से कर देता है। कार्य चाहे छोटा हो या बड़ा, योग्य व्यक्ति की हर जगह क़द्र है, अयोग्य की कहीं नहीं। **योग्य की सुनी जाती है, अयोग्य को हर जगह, हरेक से सुनना पड़ता है। योग्य व्यक्ति बाधाओं के बावजूद उन्नति करता चला जाता है, ऊपर उठता चला जाता है, अयोग्य व्यक्ति सिफ़ारिशों और संसाधनों के बावजूद भी पिछड़ जाता है।** अतः अपने को वर्तमान एवं भविष्य की ज़रूरतों के अनुरूप योग्य और उपयोगी बनाइये। योग्यता का सम्बन्ध सभी प्रकार की शैक्षणिक, व्यवसायिक, तकनीकी, सम्प्रेषणिक आदि, विविध योग्यताओं से है, अतः **योग्यता संवर्धन के सम्बन्ध में हमारा अभिग्रहण बहुआयामी (multi-disciplinary) होना चाहिये।** केवल अपने सीमित विषय या सीमित कार्य की योग्यता पर्याप्त नहीं, अपनी संस्था या अपने कार्य से सम्बन्धित सभी अन्य विभागों या कार्यों में थोड़े से प्रयास से पूरे उतर जाने की क्षमता हमारे अन्दर निरन्तर बनी रहनी चाहिये। यक़ीन कीजिये, यदि आपमें योग्यता है, देखने, समझने, करने और कर दिखाने की, तो आपका विकास निश्चित है।

पुरुषार्थ—

किसी कवि की पक्तियाँ हैं—

पुरुषार्थ ही इस दुनियाँ में, सब कामना पूरी करता है।
मन चाहा फल उसने पाया, जो आलसी बन के पड़ा न रहा॥

विकास का मूल पुरुषार्थ है, उद्यम है, उद्योग और प्रयत्न है। सतत् विकास के लिये सतत् पुरुषार्थ करते रहना ज़रूरी है, भाग्यवादी बने रहना ठीक नहीं। इसमें कोई शक नहीं, कि भाग्य अथवा प्रारब्ध का अपना महत्व है, परन्तु निःसन्देह पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा है। कारण, जो भाग्य से हम खो बैठते या गँवा देते हैं, उसको पुरुषार्थ के द्वारा ही हम पुनः प्राप्त कर सकते हैं। और जो भाग्य से हम प्राप्त कर भी लें, तो उसका रखरखाव और वर्धन पुरुषार्थ से ही हो सकता है। महाभारत में पाण्डवों को अपने मिले हुये राज्य को जुये में गँवा बैठना भाग्य की बात थी। परन्तु साहस और युक्ति से युद्ध कर, कौरवों को मार कर, न केवल अपने खोये हुये राज्य, वरन सम्पूर्ण राज्य को प्राप्त कर लेना, यह पुरुषार्थ का चमत्कार था। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह कि इस जन्म में किये गये पुरुषार्थ से ही अगले जन्म का, या आगे का भाग्य या प्रारब्ध बनता है और बिगड़े हुये या बिगड़ गये भाग्य या प्रारब्ध को पुरुषार्थ के द्वारा ही सुधारा या सँवारा जा सकता है। अतः भाग्य की अपेक्षा पुरुषार्थ कहीं बड़ा है। पर ध्यान रहे, कि भाग्य बदलने के लिये जादू-टोना, टोटका, ज्योतिष, यंत्र-तंत्र, गुरु, औलिया पीर, देवी-देवताओं तथा पूजा-पाठ का आश्रय लेना, पुरुषार्थ नहीं कहाता। सुविचारित तथा श्रेष्ठतम कर्मों को क्रियान्वित करना ही पुरुषार्थ का मूल है। चारों वेदों में पुरुषार्थ की ही महिमा है। वेद का आदेश है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

—यजुर्वेद ४०।२

(इह) इस लोक में, प्रत्येक को (कर्माणि कुर्वन् एव)

अपने कर्तव्य कर्म करते हुये ही (शतं समा) सौ वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करनी चाहिए। (एवं त्वयि) तेरे लिये यही एक मार्ग है। (इतः अन्यथा नास्ति) इससे अन्य कोई मार्ग नहीं।

वेद के अनुसार कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः (अथर्व० ७।५०।८) मेरे दायें हाथ में पुरुषार्थ है, तो बायें हाथ में जीत (सफलता) है, यही सत्य है।

पुरुषार्थ के तीन महत्वपूर्ण अंग हैं—सतत् प्रयत्न, अतुल तप और निरन्तर परिश्रम। जो जी जान से जिसके लिये लगा रहता है, अंततः उसको प्राप्त कर ही लेता है। जहाँ चाह है, वहाँ राह है; जहाँ राह है, वहाँ गमन है; जहाँ गमन है, वहाँ गति है; जहाँ गति है, वहाँ प्राप्ति है; जहाँ प्राप्ति है, वहाँ विकास है। पुरुषार्थ के तीन मित्र हैं विवेक, उत्साह और आत्म-विश्वास और चार शत्रु हैं—अज्ञान, आलस्य, प्रमाद और भय। इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं, न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादमतन्द्राः। (ऋग्वेद ८।२।१८) परमेश्वर तथा समस्त (देवाः) देवगण (सुन्वन्तं) पुरुषार्थी को (इच्छन्ति) चाहते हैं; केवल (स्वप्नाय) स्वप्न लेने वाले को (न) नहीं (स्पृहयन्ति) चाहते। (प्रमादी) प्रमादी अर्थात् घमण्डी का (अंतद्राः) आलस्य न करते हुये (येति) दमन कर देते हैं।

अज्ञान से ही मति हीनता उत्पन्न होती है। और जिसकी मति मारी जाती है, वह उपद्रवी तो हो सकता है, किन्तु पुरुषार्थी नहीं। पुरुषार्थी की तो परमात्मा से प्रतिदिन यही प्रार्थना होती है कि "वयं देवानां सुमतौ स्याम" (ऋग्वेद ७।४१।४) हम सदैव देवों की सुमति में रहें।

पुरुषार्थी का भूषण है—अभयता। जो भय, भ्रम और संशयों से ग्रस्त है, वह कोई पुरुषार्थ कर ही नहीं सकता। भयभीत व्यक्ति यदि थोड़ा बहुत प्रयत्न करता भी है, तो उसको उससे यथेष्ठ फल नहीं प्राप्त होता।

विश्व साहित्य में केवल वेद ही वह प्राचीनतम् ग्रन्थ है, जो अभयता का पाठ पढ़ाता है। यदि आपके अन्दर भय बैठा हुआ है, तो सर्वत्र आपको भय ही भय है। और यदि आपके

अन्दर अभयता विराजमान है, तो सर्वत्र आपको अभय ही अभय है। भय और अभय, दोनों एक साथ एक ही स्थान पर नहीं रहते, और न रह सकते हैं। अतः अभय बनिये। अभयशील की ही **"सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु"** (अथर्ववेद १९।१५।६) समस्त आशायें मित्र हो जाती हैं। अभयता का यह मतलब नहीं कि उचित सतर्कता तथा सावधानता बरती ही न जाय। अभयता का अर्थ यही है, कि पुरुषार्थी इन गुणों के साथ निर्भयता से किसी भी अवस्था और किसी भी स्थिति में अदम्य बना रहे, और सफ़लता के कीर्तिमान स्थापित करता रहे।

व्यवहार कुशलता—

व्यक्तित्व के विकास में व्यवहारकुशलता का अपना एक विशिष्ट स्थान है। दुःख इस बात का है, कि आज व्यवहारकुशलता को ग़लत अर्थों में ले लिया गया है। आज जो चतुर, चालाक, चापलूस, चपल और चाटुकार हो, उसे व्यवहारकुशल समझा जाता है। इस ग़लत धारणा का निराकरण सर्वत्र होना चाहिये। प्राचीन भारतीय मनीषा का एक सूत्र है—**'यन्मनसा मनुते, तद वाचा वदति। यद वाचा वदति, तत् कर्मणा करोति'**॥ जो मन से मनन किया गया हो, वही वाणी से बोले। और जो वाणी से कहे, उसे ही कार्यान्वित करे। आज सब कुछ उल्टा हो गया है। अब स्थिति यह है—*'मन की बात मन ही राखे, कहे वही जो जग मन-भाये।' कितने ही वायदे कर ले ज़ुबान से, पूरा एकहु न करे न कराये'॥* यह स्थिति डिप्लोमेसी तो हो सकती है, व्यवहारकुशलता नहीं। व्यवहारकुशलता का एक मूलभूत सिद्धान्त यह है, कि सबसे प्रीतिपूर्वक, (अर्थात् निष्कपटता के साथ), धर्मानुसार, (अर्थात् उचित-अनुचित को ध्यान में रखते हुये) बरतना चाहिये। व्यवहारकुशलता का मापदण्ड इस बात में है कि जो कहा जा रहा हो, वह व्यवहारिक हो, और क्रियात्मक रूप से व्यवहृत किया जा सके। **वचनबद्धता और सही चीज़ का सही ढंग से, सही समय पर क्रियान्वयन व्यवहार-कुशलता के अभिन्न अंग हैं।** व्यवहारकुशल होने के लिए जिन तीन अनिवार्य गुणों की आवश्यकता है, वे हैं—(क) व्यवसायात्मिका (अर्थात् निश्च्यात्मक) बुद्धि, (ख) सकारात्मक

सोच और (ग) माधुर्य-युक्त सम्प्रेषण कला, जिसके द्वारा विचारों को बहुत ही सुन्दर तरीक़े से, सरलता तथा स्पष्टता के साथ सशक्त, किन्तु माधुर्यपूर्ण वाणी में अभिव्यक्त किया जा सके। व्यवहारकुशलता में वाणी की साधना, जो सम्प्रेषण कला का एक अंग है, अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वाणियों का विज्ञानमय, अक्षयस्त्रोत अन्तःकरण अथवा अन्तरात्मा में निहित है। हृदय और मन की निर्मल चलनी में छानकर जब वाणियाँ बोली जाती हैं, अर्थात् प्रवाहित होती हैं, तब उनके प्रवाह में सम्यक्ता, पूर्णता और दिव्यता होती है। हृदय और मन के मलिन होने पर अन्तःकरण से अन्तरात्मा की वाणियों का स्त्रोत रुद्ध होकर, बिल्कुल बन्द हो जाता है। तब मनुष्य जो कुछ बोलता है, अपने पांडित्य के आधार पर मस्तिष्क के तर्क-वितर्क से बोलता है, और जब ऐसा होता है तब उसकी वाणी में सम्यकता, पूर्णता और दिव्यता नहीं रहती।

वेद में आया—"**सम्यक् स्त्रवन्ति सरितो न धेनाऽअन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।**" (ऋग्वेद ४।५८।६; यजुर्वेद १३।३८; १७/९४) (धेना) वाणियाँ (हृदा, मनसा पूयमानाः) हृदय और मन से पवित्र होती हुई (अन्तः) अन्दर (सम्यक् स्त्रवन्ति) सम्यक् प्रवाहित होती हैं (सरितः न) सरिताओं के समान। मोटी बात यह है कि—"**बात जब दिल से निकलती है, असर करती है। बात यदि केवल मस्तिष्क की उपज होती है, तो ऊपर ही ऊपर छूती हुई हवा में उड़ जाती है, अपना प्रभाव नहीं छोड़ पाती।**" भ्रम, भ्रान्ति और संकीर्णता से जो ग्रस्त नहीं है, जो निर्द्वन्द, निभ्रान्त, निस्वार्थ और निर्भय है, जिसकी वाणी में मिठास, स्पष्टता, ओज और तेज है, जिसकी दृष्टि में प्यार, विशालता और आदर है, वही सही अर्थों में व्यवहारकुशल है। और जो व्यवहारकुशल है, वह विकास के पथ पर रुकने वाला नहीं, सतत् बढ़ता ही जायेगा।

कर्मकुशलता—

व्यवहार कुशलता के साथ ही विकास का अनिवार्य अंग है—कर्मकुशलता। कुशलता के मानो दो पैर हैं—एक व्यवहार, दूसरा कर्म। चलने के लिये, आगे बढ़ने के लिये जैसे दोनों पैरों की सक्रियता ज़रूरी है, उसी प्रकार सतत् विकास की ओर बढ़ने में व्यवहार कुशलता और कर्मकुशलता दोनों ज़रूरी हैं। **कुशलता का अर्थ है। 'नियत कार्य का दक्षता के साथ नियत अथवा उससे कम समय में गुणवत्ता-पूर्ण निष्पादन'।** इस प्रकार कर्मकुशलता कर्त्तव्य-मार्ग की एक साधना है, जिसका परिणाम है उत्तरोत्तर विकास एवं प्रगति। भारतीय मनीषा में तो कार्यकुशलता को योग का पर्याय माना गया है—**"योगः कर्मसु कौशलम्"** (गीता २.५०) कर्मों में कुशलता ही योग है, और योग चर्चा का विषय नहीं, साधना का, क्रिया का विषय है। अतः कर्मकुशल होने के लिये यह आवश्यक है, कि—

— कर्त्ता को करणीय कार्य की, उसकी विधा व तकनीक की पूरी समझ हो।

— कर्त्ता कार्य को कर्त्तव्य भावना से पूर्ण मनोयोग से करे।

— कर्त्ता का लक्ष्य कार्य के गुणवत्तापूर्ण निष्पादन में हो, कार्य को मात्र धकेलने या बेगार टालने में नहीं।

— कर्त्ता इस बात के लिये अन्तः प्रेरित हो कि उसे कार्य को दक्षता के साथ नियत अथवा उस से कम समय में गुणवत्तापूर्ण ढंग से निष्पादित करके अपनी सुयोग्यता, सक्षमता और उत्कृष्टता को सिद्ध करना ही है।

— कर्त्ता की मनोवृत्ति, कर्मफल में आसक्ति की न होकर, सफ़लता की उपलब्धि की होनी चाहिये।

ध्यान रहे कि कर्त्ता जब कर्मफल पर अपना अधिकार समझने लगता है, अर्थात् कर्मफल में उसकी आसक्ति हो जाती है, तब क्षोभ उत्पन्न होने लगता है। क्षोभ क्षेम को नष्ट कर देता है, और वही कर्त्ता भविष्य में कार्यकुशल नहीं रह पाता। इसीलिये गीता में कहा है—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदा चन'** (गीता २.४७)। किन्तु कार्य-साफ़ल्य तथा उपलब्धि की भावना कर्मकुशल कर्ता को सतत् प्रेरित एवं उत्साहित रखती है। निरन्तर

कर्मकुशल बने रहने के लिये कार्यक्षेत्र में सफ़लतायें तथा उपलब्धियाँ ही सहायक होती हैं, और कोई मार्ग नहीं। वेद में तो यहाँ तक् कहा गया है, कि तू ऐसा कर्मकुशल बन कि सब तेरी कार्यकुशलता पर मुग्ध हो जावें।

विश्वकर्मन् हुविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्येऽअभितः जनासऽइहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥

—ऋग्० १०।८१।६; यजु० १७।२२; साम० १५८९

हे (**विश्वकर्मन्**) सर्व कर्मकुशल! (**मघवा**) पूजित धन का स्वामी परमात्मा (**अस्माकम्**) हमारा (**सूरिः**) प्रेरक है। उसी की प्रेरणा से तू (**हविषा**) जीवन-हवि से (**वावृधान**) बढ़ता हुआ (**पृथिवीम् उत द्याम**) पृथिवी और द्यौ से (**स्वयं यजस्व**) स्वयं इस प्रकार युक्त हो, कि (**अन्ये जनासः**) अन्य जन (**अभितः**) सर्वतः तुझ पर (**मह्यन्तु**) मुग्ध हो जावें।

सृजनशीलता—

सतत् विकास के लिये जीवन में सृजनशीलता बहुत ज़रूरी है। दुनियाँ सृजन चाहती है, संहार नहीं, जब तक कि संहार स्वयं एक नव-सृजन के लिये ज़रूरी न हो। सृजनशीलता आती है, सृजनात्मक विचारों से, सकारात्मक सोच से और रचनात्मक कार्यक्रमों से। सृजनशीलता की जननी है, संवेदनशीलता। मनुष्य जब किसी कष्टप्रद, दुःखदायी, उबाउ, बोझिल, भारप्रद, विषम स्थिति के प्रति संवेदनशील होता है, तभी वह ऐसा कुछ नया करने की सोचता है, जिससे उस स्थिति से उभरा या उभारा जा सके। तभी आवश्यकता अविष्कार को जन्म देती है। संवेदनशील व्यक्ति ही दूसरों की सहायता करने तथा मानव-हित एवं जन-जागरण तथा जन-कल्याण के कार्यों में प्रवृत्त होता है। इसके अतिरिक्त संवेदनशील व्यक्ति ही अपनी संस्था को और ऊँचा उठाने या अपने तथा अन्यों के कार्य को कुछ और अच्छा, कुछ और बेहतर, या कुछ और सुगम बनाने की सोचता है। यह सकारात्मक सोच सृजनात्मक विचारों को जन्म देती है, जिसके फलस्वरूप रचनात्मक कार्यक्रम सामने आते हैं और निष्पादित

होते हैं। विकास का चक्र, प्रगति का पहिया घूमने लग जाता है और कुछ नया, कुछ और अच्छा सामने आ जाता है। इसलिये सतत् विकास के लिए सृजनशील बनिये। दुनियाँ में अधिकांश लोग वे हैं, जो किसी को अपना आदर्श नायक मानकर उसका अनुसरण करते हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी होते हैं, जो स्वयं एक आदर्श नायक बन जाते हैं। जो स्वयं आदर्श नायक बन जाते हैं, वे प्रथमतः सृजनशील होते हैं। कुछ न कुछ नया या कुछ न कुछ अच्छा सोचते ही नहीं, करके दिखा देते हैं। वे यह नहीं देखते, कि दूसरे क्या कर रहे हैं, या नहीं कर रहे। वे जोखिम लेते हैं, और अपनी सुविचारित योजना को क्रियान्वित कर जाते हैं; यही उनकी सृजनशीलता है, जो उन्हें एक साधारण मनुष्य से उठाकर एक आदर्श नायक बना देती है।

आत्मविश्वास—

सतत् विकास की सप्तपदी में अन्तिम और अत्यन्त महत्वपूर्ण कड़ी है—"आत्म-विश्वास"। यदि आत्मविश्वास है, तो आकांक्षा, योग्यता, पुरुषार्थ, व्यवहारकुशलता, कर्मकुशलता, सृजनशीलता, जोखिम उठाने का साहस, चुनौतियों से जूझने की अतुलनीय शक्ति आदि सब कुछ स्वतः ही आ जाता है। आत्मविश्वास का सीधा-सादा अर्थ है है कि आपको अपने पर पूर्ण विश्वास है; आप इतनी आन्तरिक शक्ति के मालिक हैं कि आप स्वयं ही अपने गुरु, मार्गदर्शक, निर्णयकर्त्ता, न्यायविद और कार्यकर्त्ता हैं। आपको किसी धक्के की ज़रूरत नहीं; आप स्वयं ही अपने फ़ैसले आप करके गतिशील हो जाने वालों में से हैं। आत्मविश्वास और आत्म निर्भरता का अटूट सम्बन्ध है। आत्म विश्वासी कठिन से कठिन कार्य को भी केवल अपने आप पर निर्भर होकर आरम्भ कर देता है। वह साधन और सहयोग की प्रतीक्षा नहीं करता, न उनकी अपेक्षा रखता है। परमुखापेक्षी और परावलम्बी हो जाना उसको नहीं सुहाता। पर आत्म-विश्वासी होने का यह मतलब नहीं, कि अपने आस-पास की स्थिति का अध्ययन न किया जाये, या बाहरी जानकारी, ज्ञान, तकनीक, विद्या, सुविधा आदि का सहारा न लिया जाय;

आत्मविश्वासी का मतलब यह है कि आपके अन्दर निर्भयता है, निर्द्वन्दता, निराभिमानता और निर्विकारता है, और है स्वयं निर्णय लेने तथा विभिन्न प्रकार के कार्यों से जूझने की शक्ति, जिसके द्वारा आप अपने सुविचारित एवं सुनियोजित सर्वोत्कृष्ट और सर्वोत्तम लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। आत्मविश्वास का जनक है, स्वयं आपका आत्मा। पर आपकी इस आत्मा को आत्म-ज्ञान और आत्म-बल से पूरित करने वाला है, परमात्मा। आत्म-ज्ञान और आत्म-बल किसी बाज़ार से नहीं ख़रीदा जा सकता; किसी ज्योतिषी, तांत्रिक, गुरु, आचार्य, प्राचार्य, सन्त, महात्मा से नहीं लिया जा सकता। यह मिलता है, एक मात्र परमात्मा से, और केवल उनको, जो उसकी शरण में जाते हैं, उसका आश्रय लेते हैं। ईश्वर पर विश्वास ही आत्म-विश्वास का मूल स्त्रोत है। यही कारण है कि दुनियाँ को ईश्वर की सत्ता को मानना पड़ता है। **'य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिष॒ं यस्य॑ दे॒वाः'** (यजुर्वेद २५.१३) यह सूक्ति इसी तथ्य की परिचायक है। मनुष्य के जब गुण, कर्म, स्वभाव अत्यन्त उत्तम होते हैं, सद्-ज्ञान, सद्-विचार, सद्-विवेक, सद्-आचार, सद्-व्यवहार और सत्कर्मों की ओर जब मनुष्य उन्मुख होता है, तभी परमात्मा उसको आत्मविश्वास से परिपूर्ण करता है। परमात्मा के प्रताप से ही—

एक॑ ए॒वाग्निर्ब॑हुधा समि॑द्ध॒ एक॒ः सूर्यो॒ विश्व॒मनु॒ प्रभू॑तः।
एकै॒वोषाः सर्व॑मि॒दं वि भा॒त्येक॒ं वा इ॒दं वि ब॑भूव॒ सर्व॑म्॥

—ऋग्वेद ८।५८।२

(अग्निः) अग्नि (एकः एव) एक अकेला ही (बहुधा) बहुत प्रकार से (समृइद्धः) प्रज्वलित होता है। (सूर्यः) सूर्य (एकः) अकेला (विश्वम्) विश्व के प्रति (अनुप्रभूतः) प्रादुर्भूत (होता है)। (उषाः) उषा (एका एव) अकेली ही (इदम् सर्वम्) इन सबको (विभाति) प्रकाशती है।

मन्त्र का ध्येय हमारे आपके आत्म विश्वास को प्रबल करना है, वरना साधना के पथ पर कोई भी साधक अकेला नहीं

है। प्रभु की कृपा और सहायता सदैव सच्चे साधक के साथ रहती है, किन्तु झूठे, मक्कार और पाखण्डियों के साथ नहीं; और प्रभु तो स्वयं सर्वत्र, सर्व-व्यापक तथा सर्वदृष्टा हैं ही।

सतत् विकास की ओर—

तो आइये, 'उत्क्राम महते सौभगाय' (यजुर्वेद ११।२१) महान् सौभाग्य का अर्जन करने के लिये, हम जहाँ पर, जिस स्थिति में हैं, उससे उत्क्रमण करें, ऊँचे उठें और सतत् विकास की ओर आगे बढ़ें। इसी में जीवन की सार्थकता है। उत्तरोत्तर उन्नति और विकास के लिये और कोई श्रेयस्कर मार्ग नहीं। वेद की इस ऋचा को हमेशा याद रखें—

स्व१र्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥

—अथर्ववेद ४।१४।४

(ये) जो (सुविद्वांसः) सुविद्वान् (होते हैं), वे ही (विश्वतः धारम्) सर्वतः धारक, विश्व-पोषक (यज्ञम्) श्रेष्ठतमं कर्मों को (वितेनिरे) विस्तारते, सम्पादित करते हैं। [वे किसी की भी] (न अप ईक्षन्ते) अपेक्षा नहीं करते। (स्वः यन्तः) स्वयं पुरुषार्थ करते हुये उत्तरोत्तर विकास करते हुये (द्याम्) द्यौ (रोदसी) अन्तरिक्ष और पृथिवी पर (आ रोहन्ति) आरोहण करते (ऊँचे उठते) चले जाते हैं।

प्रभु हम आपको ऐसी ही शक्ति और साहस प्रदान करें, इस मंगल प्रार्थना के साथ—

—निवेदनकर्ता

महात्मा गोपाल स्वामी सरस्वती
आर्य वानप्रस्थाश्रम, कक्ष-१,
आर्यसमाज नौएडा,
जि०-गौतमबुद्धनगर-२०१ ३०१

श्रावणी सं० २०६१ वि०

ओ३म्

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः

—भगवद्गीता ५.४

सांख्य पद्धति से वैदिकधर्म का परिचय

१. ऋग्	यजुः	साम	अथर्व	:	वेद	चतुष्टय
२. अग्नि	वायु	आदित्य	अङ्गिरा	:	ऋषि	चतुष्टय
३. कोऽसि	कतमोऽसि	कस्यासि	को नामासि	:	प्रश्न	चतुष्टय
४. वेदोऽस्मि	उत्तमोऽस्मि	प्रजापतेरऽस्मि	वेदनामास्मि	:	उत्तर	चतुष्टय
५. शरीर	मन	बुद्धि	आत्मा	:	पुरुष	चतुष्टय
६. अर्थ	काम	धर्म	मोक्ष	:	पुरुषार्थ	चतुष्टय
७. ब्रह्मचर्य	गृहस्थ	वानप्रस्थ	संन्यास	:	आश्रम	चतुष्टय
८. अन्नब्रह्म	संकल्पब्रह्म	वेदब्रह्म	परब्रह्म	:	उपास्य	चतुष्टय
९. भिक्षा	शिक्षा	परीक्षा	दीक्षा	:	ईक्षण	चतुष्टय
१०. आलस्य	अभाव	अन्याय	अज्ञान	:	मरण	चतुष्टय
११. अय	आय	न्याय	अध्याय	:	करण	चतुष्टय
१२. शूद्र	वैश्य	क्षत्रिय	ब्राह्मण	:	वर्ण	चतुष्टय
१३. श्रीः	श्रीः	यशः	अमृत	:	अमृत	चतुष्टय





महात्मा गोपाल स्वामी सरस्वती द्वारा लिखित, सम्पादित/संकलित साहित्य

1.	DAILY PRAYER	35.00
2.	HUMAN RIGHTS & THE VEDAS	40.00
3.	DEEPAWALI—THE FESTIVAL OF ENLIGHTENMENT	20.00
3.	वेद स्वाध्याय प्रदीपिका (प्रथम खण्ड)	100.00
4.	वेद स्वाध्याय प्रदीपिका (द्वितीय खण्ड)	प्रेस में
5.	वेदोक्त कर्मकाण्ड दर्पण	80.00
6.	बरेली में स्वामी दयानन्द सरस्वती का प्रवास तथा स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन के प्रेरक प्रसंग	25.00
7.	महर्षि दयानन्द सरस्वती का बरेली शास्त्रार्थ तथा बरेली में लिखित स्व-जीवन चरित्र	25.00
8.	अस्तित्व की रक्षा (ट्रैक्ट)	--
9.	ज्योतिष - कितनी सच्ची कितनी झूठी	5.00
10.	सतत् विकास की ओर	5.00
11.	The Eternal Religion of the Mankind — Vedic Dharma (Tract)	2.00
12.	Vedic Wisdom & Globalisation (Tract)	2.00

* डाक व्यय अतिरिक्त

प्राप्ति स्थान :

१. विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द,
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-११० ००६, दूरभाष : ०११-२३९७७२
Email : ajayarya@ndb.vsnl.net.in; Website : www.vedic... .com

२. विश्व मानव उत्थान परिषद्,
४६/५, कम्युनिटी सेंटर, ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली-११० ०६५
दूरभाष : ०११-५५६०८९१६, ३२१०६९७४

Designed, typesetted and printed at Bhagwati Laser Prints, New Delhi-110 065, Tel. : 011-26414359